RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2023

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 2 मार्च-अप्रैल-मई-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

दिल्ली में हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना

रामस्वरूप गढ़वाल
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

दिल्ली नगर केवल राजनीतिक सत्ता का केंद्र नहीं रहा, बल्कि भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृति की निरन्तर विकासशील परम्परा का भी प्रमुख आधार रहा है। दिल्ली की साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए हमें केवल मध्यकाल या ऐतिहासिक काल तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि सुदूर अतीत की उन सांस्कृतिक परतों तक पहुँचना होगा जहाँ से भाषा, भाव और अभिव्यक्ति के बीज अंकुरित हुए। 'दिल्ली' अथवा 'दिल्ली मंडल' का इतिहास पाँच हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन माना जाता है, परन्तु आज उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य मुख्यतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद के काल को ही स्पष्ट रूप में सामने रखते हैं। इसी कारण दिल्ली के साहित्यिक अतीत की खोज एक चुनौतीपूर्ण, किंतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बौद्धिक यात्रा बन जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आज हम दिल्ली को अनंगपाल तोमर, पृथ्वीराज चौहान तथा उनके बाद के मुस्लिम शासकों के शासनकाल से जोड़कर देखते हैं। मेहरौली, चिराग दिल्ली, तुगलकाबाद, सीरी, कोटला फिरोजशाह, दीनपनाह, शाहजहानाबाद और सलीमगढ़ जैसे नगर-खंडों के माध्यम से दिल्ली की राजनीतिक गाथा का निर्माण हुआ। किंतु यह लगभग एक सहस्राब्दी का काल हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्कर्ष का भी काल रहा है। इस अवधि में हिन्दी के विविध रूप विकसित हुए और साहित्यिक अभिव्यक्ति ने सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इसके बावजूद, इस समृद्ध साहित्यिक स्वरूप की पूर्वपीठिका को समझना सरल नहीं है, क्योंकि जैसे-जैसे हम इतिहास में पीछे की ओर बढ़ते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव बढ़ता जाता है और शोध को अनुमान, संकेत और परोक्ष साक्ष्यों के सहारे आगे बढ़ना पड़ता है।

फिर भी यह तथ्य निर्विवाद है कि आज जिस हिन्दी भाषा और साहित्य को हम विकसित रूप में देखते हैं, उसके बीज और प्रारम्भिक अंकुर इसी ज्ञात युग से पहले के अज्ञात या अल्पज्ञात काल में निहित हैं। वर्तमान में उपलब्ध ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सूत्रों को आधार बनाकर ही हमें अतीत की उस परम्परा का पुनर्निर्माण करना पड़ता है, जिसने दिल्ली को भारतीय साहित्यिक चेतना का एक सशक्त केंद्र बनाया। इस खोज-यात्रा का प्रथम स्पष्ट बिंदु हमें महाभारत-युग में दिखाई देता है, जो लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व का समय माना जाता है।

महाभारत काल में कुरु-पांचाल जनपदों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का संचालन मुख्यतः हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ से होता था। इन्द्रप्रस्थ, जिसे आज की दिल्ली के रूप में

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

पहचाना जाता है, उस समय केवल एक राजनीतिक राजधानी नहीं था, बल्कि साहित्यिक और बौद्धिक गतिविधियों का भी प्रमुख केंद्र था। महाभारत जैसा विश्वप्रसिद्ध महाकाव्य, श्रीमद्भगवद्गीता जैसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक जीवन-संहिता तथा विदुरनीति जैसी लोक-प्रेरक रचना उसी सांस्कृतिक परिवेश की उपज हैं। इन ग्रंथों की वैचारिक गहराई, भाषिक परिष्कार और मानवीय संवेदना यह संकेत देती है कि उस युग में भाषा और साहित्य की पृष्ठभूमि अत्यन्त सुदृढ़ और समृद्ध रही होगी।

यह भी उल्लेखनीय है कि जिस भू-भाग को वारणावृत्त, खांडव वन जैसे दलदली, ऊबड़-खाबड़ और अंधकारमय क्षेत्रों के रूप में जाना जाता था, उसी को कुशल उद्यम, शिल्प-निपुणता और संतुलित जीवन-दृष्टि के माध्यम से एक सुव्यवस्थित, समृद्ध और रमणीय महानगर का स्वरूप प्रदान किया गया। इन्द्रप्रस्थ का निर्माण केवल भौतिक विकास का प्रतीक नहीं था, बल्कि वह उस सृजनात्मक चेतना का परिचायक था, जिसमें कला, शिल्प, भाषा और साहित्य एक-दूसरे के पूरक रूप में विकसित होते हैं। ऐसी ही सुदृढ़ सांस्कृतिक भूमि पर महाभारत, गीता और विदुरनीति जैसी प्रगल्भ रचनाओं का सृजन संभव हो सका।

प्रस्तुत अंश के आलोक में दिल्ली की अवधारणा को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है, क्योंकि 'दिल्ली' को केवल किसी एक नगर, कस्बे या निश्चित भौगोलिक इकाई के रूप में देखना उसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्वरूप को सीमित कर देता है। वास्तव में दिल्ली एक सतत ऐतिहासिक प्रक्रिया का नाम है, जो बार-बार बसती और उजड़ती रही, और प्रत्येक बार अपने भीतर नए अनुभव, नई भाषिक प्रवृत्तियाँ और नई सांस्कृतिक चेतना समाहित करती चली गई। इस दृष्टि से दिल्ली किसी एक समय में निर्मित नगर नहीं, बल्कि अनेक नगरों, बस्तियों, ग्रामों और अंचलों के निरंतर परिवर्तनशील समुच्चय का प्रतीक है। 'नौ दिल्ली, दस बादली, किला वज़ीराबाद' जैसी लोक-कहावतें इस ऐतिहासिक यथार्थ को जनमानस की स्मृति में सुरक्षित रखती हैं और यह सिद्ध करती हैं कि दिल्ली की पहचान स्थायित्व से अधिक निरंतर परिवर्तन में निहित रही है।

इतिहासकारों और विद्वानों ने भी दिल्ली की इसी बहुस्तरीय संरचना को रेखांकित किया है। 'सेवन सिटीज़ ऑफ़ दिल्ली' जैसी अंग्रेज़ी कृतियाँ इस तथ्य को स्थापित करती हैं कि दिल्ली एक नहीं, अनेक नगरों का समाहार रही है। कुछ इतिहासकारों ने सात नगरों की परिकल्पना की है, तो कुछ ने बारह, चौदह अथवा अठारह नगरियों के उदय और पतन का विवरण प्रस्तुत किया है। यह विविधता इस बात का प्रमाण है कि दिल्ली का इतिहास किसी एक सत्ता, एक संस्कृति या एक समयखंड में सीमित नहीं रहा। विशेष रूप से बहादुरशाह ज़फ़र के पौत्र शाहज़ादा मिर्ज़ा अहमद अख्तर द्वारा रचित 'स्वानह देहली' में दिल्ली को इक्कीस शहरों का नगर बताया जाना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें शाहजहानाबाद से पूर्व के अधिकांश स्थापत्य को 'हिंदू-शिल्प' की देन मानना इस तथ्य को उजागर करता है कि दिल्ली की सांस्कृतिक जड़ें इस्लामी शासन से बहुत पहले भारतीय परंपरा में गहराई से धंसी हुई थीं।

आगा महदी हुसैन की 'मसालिक उलअबसार' और नवाब मोहतशम-उद्दौला की 'सैरुल मोहतशम' जैसी कृतियाँ भी इस ऐतिहासिक निरंतरता की पुष्टि करती हैं। विशेष रूप से सन् 1919 ईस्वी में प्रकाशित 'वाक़यात दारुल हकूमत देहली' जैसे विशाल ग्रंथ में मध्ययुग से पूर्व की दिल्ली का जो विस्तृत इतिवृत्त मिलता है, वह इस बात को सुदृढ़ करता है कि दिल्ली का इतिहास केवल मुस्लिम या मुगल काल तक

सीमित नहीं है, बल्कि उससे बहुत पहले की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को भी अपने भीतर समेटे हुए है। यद्यपि इन ऐतिहासिक विवरणों का सूक्ष्म विश्लेषण इतिहास और पुरातत्त्व का विषय है, फिर भी साहित्यिक विवेचना के लिए इतना समझ लेना पर्याप्त है कि दिल्ली को केवल शासकों और सामंतों का नगर मानना एकांगी दृष्टि होगी। वस्तुत: दिल्ली जनता का महानगर रही है, जहाँ विभिन्न वर्गों, जातियों, भाषाओं और संस्कृतियों ने मिलकर इसके स्वरूप को गढ़ा है।

एच. के. कौल का यह कथन कि दिल्ली हर विजयी शासक की स्वामिनी बनी रही, गहरे अर्थ में यह संकेत देता है कि दिल्ली ने किसी एक सत्ता को स्थायी रूप से स्वीकार नहीं किया, बल्कि प्रत्येक शासक, प्रत्येक युग और प्रत्येक संस्कृति को आत्मसात कर उसे अपने बहुरंगी व्यक्तित्व का हिस्सा बना लिया। यही कारण है कि दिल्ली का ऐतिहासिक स्वरूप बहुआयामी और बहुस्तरीय बन पड़ा है।

जब हम इस व्यापक ऐतिहासिक-भौगोलिक परिप्रेक्ष्य से आगे बढ़कर दिल्ली मंडल की भाषिक और साहित्यिक स्थिति पर दृष्टि डालते हैं, तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। महात्मा बुद्ध के काल से पूर्व इस क्षेत्र में मुख्यत: संस्कृत का ही प्रचलन रहा। यह संस्कृत न केवल धर्म, दर्शन और शास्त्रों की भाषा थी, बल्कि प्रशासन और विद्वत समाज की भी प्रमुख माध्यम थी। किंतु इसके समानांतर लोक-जीवन में लोक-भाषाओं का सशक्त प्रवाह अवश्य विद्यमान रहा होगा। यही लोक-भाषाएँ कालांतर में पाली, प्राकृत और फिर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुईं। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का विकास किसी एक झटके में नहीं, बल्कि दीर्घकालीन सामाजिक प्रयोग और जन-व्यवहार के माध्यम से होता है।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में शौरसेनी प्राकृत के प्रयोग का उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करता है कि लोक-भाषाओं को साहित्यिक मान्यता प्राप्त थी। शौरसेनी का संबंध जिस शूरसेन जनपद से जोड़ा जाता है, उसका केंद्र मथुरा-दिल्ली क्षेत्र ही रहा है। यही वह क्षेत्र है जहाँ से आधुनिक हिंदी की प्रमुख बोलियों—ब्रज, बाँगरू, कौरवी और आगे चलकर खड़ी बोली—का विकास माना जाता है। इस प्रकार दिल्ली और उसके आसपास का क्षेत्र हिंदी भाषा के विकास की प्रयोगशाला के रूप में उभरता है, जहाँ संस्कृत की विद्वत परंपरा और लोक-भाषाओं की जीवंत धारा एक-दूसरे से निरंतर संवाद करती रही।

इन्द्रप्रस्थ-दिल्ली क्षेत्र की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक भूमिका और अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है। शूरसेन जनपद का विस्तृत भू-क्षेत्र हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और इनके मध्यवर्ती अंचलों में फैला हुआ था। स्थानेश्वर (थानेसर), पृथूदक (पेहवा), कुरुक्षेत्र, कपिस्थल (कैथल), मथुरा, आगरा, कान्यकुब्ज (कन्नौज), हस्तिनापुर और मेरठ जैसे नगर इस जनपद की सांस्कृतिक धुरी रहे। इन सबके बीच त्रिकोणीय भू-खंड के रूप में स्थित इन्द्रप्रस्थ, जो आगे चलकर दिल्ली के रूप में विकसित हुआ, इस समूचे क्षेत्र का केन्द्रीय बिंदु बन गया। यही कारण है कि इन्द्रप्रस्थ का संपर्क पश्चिम में द्वारका और पूर्व में कौशांबी जैसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं राजनीतिक केंद्रों से जुड़ता चला गया। इस प्रकार यह क्षेत्र केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और भाषिक दृष्टि से भी एक सेतु की भूमिका निभाने लगा।

महाभारतकालीन ऐतिहासिक घटनाओं ने इस क्षेत्र की जनसंरचना और सांस्कृतिक स्वरूप को और अधिक बहुआयामी बना दिया। श्रीकृष्ण द्वारा यादव समुदाय को मथुरा-वृंदावन से द्वारका में बसाया जाना और हस्तिनापुर में बाढ़ आने पर पांडववंशी राजकुल का कौशांबी की ओर प्रस्थान करना, इन सब

घटनाओं के बीच इन्द्रप्रस्थ एक ऐसे आश्रय-स्थल के रूप में उभरा जहाँ शेष जनसमुदाय आकर बसता चला गया। आगे चलकर द्वारका के समुद्र में समा जाने की लोक-ऐतिहासिक परंपरा के साथ वहाँ के आभीर-जन गुजरात, काठियावाड़, राजस्थान और आबू क्षेत्र में फैलते हुए बड़ी संख्या में इन्द्रप्रस्थ की ओर आए। इस निरंतर जन-आवागमन ने इन्द्रप्रस्थ को पूर्व, पश्चिम और उत्तर की सांस्कृतिक धाराओं का संगम बना दिया। यही संगमशीलता आगे चलकर दिल्ली के साहित्यिक स्वभाव में भी प्रतिबिंबित हुई, जहाँ समन्वय, स्वीकार और मिश्रण की प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं।

इन्द्रप्रस्थ की इस ऐतिहासिक महत्ता को पुरातात्त्विक साक्ष्य भी पुष्ट करते हैं। सन् 1966 ईस्वी में कालका मंदिर मार्ग के निकट, वर्तमान लाजपत नगर-श्रीनिवासपुरी क्षेत्र में प्राप्त अशोककालीन शिलालेख इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ईसा से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व भी यह क्षेत्र सक्रिय सांस्कृतिक और भाषिक केंद्र था। ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण प्राकृत भाषा की पंक्तियाँ यह संकेत देती हैं कि इन्द्रप्रस्थ न केवल मुख्य राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित था, बल्कि शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसार का भी महत्वपूर्ण क्षेत्र था। अरावली पर्वत-श्रेणी के छोर पर स्थित यह अभिलेख इस तथ्य को और पुष्ट करता है कि दिल्ली मंडल प्राचीन भारत के प्रमुख नगरों और प्रांतीय राजधानियों को जोड़ने वाला मध्यसेतु बना हुआ था।

यद्यपि इन्द्रप्रस्थ की शासकीय सत्ता समय-समय पर दूरवर्ती राजनीतिक केंद्रों के अधीन रही, फिर भी यहाँ का जनजीवन बाहरी राजनीतिक हलचलों से अपेक्षाकृत अप्रभावित रहकर अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहा। ईसा पूर्व पहली शताब्दी के आसपास सत्ता का केंद्र पूर्वी भारत की ओर स्थानांतरित हो गया और पाटलिपुत्र, राजगृह, कौशांबी तथा वैशाली जैसे नगर प्रमुख बन गए। इसके बावजूद उत्तर भारत में कान्यकुब्ज, स्थानेश्वर और आगे चलकर लवपुर जैसे केंद्रों में राजनीतिक शक्ति का विकास होता रहा। सिकंदर के आक्रमण के समय दिल्ली मंडल पांचाल नरेश पुरु के प्रभाव क्षेत्र के निकट था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह भूभाग तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से कटा हुआ नहीं था।

इसी ऐतिहासिक क्रम में इन्द्रप्रस्थ से कुछ दूरी पर 'दिल्ली' नामक नए नगर की स्थापना का उल्लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ईसा से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व कान्यकुब्ज के राजा दिलीप के नाम पर उनके सामंत स्वरूपचंद द्वारा इस नगर की स्थापना किए जाने की परंपरा बताती है कि अब साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र धीरे-धीरे इन्द्रप्रस्थ से हटकर 'दिल्ली' के रूप में विकसित होने लगा। यह परिवर्तन केवल नगर-नाम का नहीं था, बल्कि एक नए सांस्कृतिक केंद्र के उदय का संकेत था।

दिल्ली के इतिहास में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु सम्राट विक्रमादित्य के नवरत्न वराहमिहिर का यहाँ आगमन माना जाता है। वराहमिहिर जैसे महान ज्योतिषाचार्य और विद्वान का दिल्ली में निवास इस नगर की बौद्धिक प्रतिष्ठा को दर्शाता है। उनके द्वारा निर्मित ध्रुवीय वेधयूप और नक्षत्र-आधारित खगोलीय प्रयोगशालाएँ यह सिद्ध करती हैं कि दिल्ली केवल राजनीतिक या व्यापारिक केंद्र नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और बौद्धिक गतिविधियों का भी प्रमुख स्थल था। लौहस्तंभ के समीप प्राप्त पाषाण-अवशेषों पर अंकित 'सूर्यादि यंत्रैः मिहिरावली यंत्रः' जैसी पंक्तियाँ इन तथ्यों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को और सुदृढ़ करती हैं।

इस ज्योतिष और विद्या-केंद्र के कारण देश के विभिन्न भागों से विद्वान, सिद्ध और योगी दिल्ली में आकर बसने लगे। यही कारण है कि वराहमिहिर के नाम पर मिहिरावली, आगे चलकर योगिनीपुर और योगीपुर जैसे नाम इस क्षेत्र से जुड़े। ये नाम केवल स्थानवाचक नहीं, बल्कि उस सांस्कृतिक-आध्यात्मिक

चेतना के प्रतीक हैं, जिसने दिल्ली को प्राचीन काल से ही ज्ञान, साधना और साहित्य का एक प्रमुख केंद्र बना दिया। इस प्रकार इन्द्रप्रस्थ से दिल्ली तक की यह यात्रा भाषा, साहित्य और संस्कृति की निरंतर विकासशील परंपरा का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करती है।

महाभारत काल के काफी समय बाद तक उत्तर भारत में धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक जीवन विभिन्न मतों के पारस्परिक संपर्क और प्रभाव से विकसित होता रहा। शैव और वैष्णव मतों को जहाँ समय-समय पर राजकीय संरक्षण मिलता रहा, वहीं बौद्ध मत भी समाज में गहराई तक व्याप्त था। इन्हीं के साथ लगभग उसी काल में जैन मत का उदय हुआ, परंतु उसका प्रारम्भिक विकास राजाश्रय के बजाय त्यागी, वैरागी और साधु-सिद्धों के प्रयासों से हुआ। जैन साहित्य का अधिकांश भाग तत्कालीन जनभाषाओं—प्राकृत और अपभ्रंश—में रचा गया, जिसमें शौरसेनी प्राकृत का विशेष स्थान रहा। कहीं-कहीं महाराष्ट्री प्राकृत का भी हल्का प्रभाव दिखाई देता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन साहित्य जनजीवन और लोकभाषा से गहराई से जुड़ा हुआ था।

ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी के बाद जैन मत का प्रसार पूर्व भारत से पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर हुआ। इस प्रक्रिया में विशाल शूरसेन जनपद में जैन धर्म का पर्याप्त विकास हुआ और दिल्ली अंचल भी इससे प्रभावित हुआ। मेहरौली के पश्चिम में स्थित लगभग एक हजार वर्ष पुरानी 'दादा बाड़ी' जैन मंदिर इसका ठोस प्रमाण है। इसी प्रकार हस्तिनापुर का जैन परंपरा में 'आदि तीर्थ' के रूप में प्रतिष्ठित होना भी महत्त्वपूर्ण है। जैन ग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि गुजरात और राजस्थान जैसे क्षेत्रों से हस्तिनापुर जाने वाले जैन साधु और यात्री प्राय: दिल्ली होकर ही जाते थे। प्रसिद्ध जैन कवि जिनप्रभ सूरि को दिल्ली के सुल्तान से हस्तिनापुर जाने की अनुमति प्राप्त करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किंतु अंतत: उनकी काव्य-प्रतिभा के कारण उन्हें सफलता मिली। इससे यह स्पष्ट होता है कि दिल्ली धार्मिक यात्राओं और सांस्कृतिक संपर्कों का एक अनिवार्य केंद्र थी। इस प्रकार दिल्ली को वैदिक ऋषि-परंपरा के साथ-साथ बौद्ध और जैन मुनि-परंपराओं का भी सान्निध्य प्राप्त हुआ।

भाषा के दृष्टिकोण से दिल्ली अंचल का महत्व अत्यंत विशेष है। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में दिल्ली को 'ढिल्ली', 'ढिल्लिका' तथा 'योगिनीपुर' को 'जोगिनीपुर' जैसे नामों से संबोधित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत से प्राकृत और फिर अपभ्रंश की ओर भाषा-परिवर्तन की प्रक्रिया यहाँ प्रत्यक्ष रूप में घटित हुई। दिल्ली का भौगोलिक स्थान भी इसे भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण बनाता है। एक ओर सिंधु क्षेत्र और दूसरी ओर यमुना-गंगा का मैदान—इन दोनों के बीच स्थित होने के कारण दिल्ली भारत के शरीर की 'ग्रीवा' के समान रही। इसी कारण उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणों का पहला सामना प्राय: दिल्ली को ही करना पड़ा। सिकंदर और पोरस का प्रसंग इसका उदाहरण है। इस निरंतर संपर्क, आवागमन और संघर्ष के कारण यहाँ की भाषा में शौरसेनी अपभ्रंश के साथ-साथ पैशाची और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के तत्व भी मिलते चले गए।

दिल्ली को धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक स्तर पर एक समन्वय-स्थल बनाने में नाथपंथी योगियों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि नाथ योगियों का दिल्ली में आगमन कब हुआ, किंतु अपभ्रंश रचनाओं और लोककाव्य में दिल्ली के लिए 'योगिनीपुर' और 'जोगीपुर' जैसे नामों का बार-बार प्रयोग इस क्षेत्र में उनके प्रभाव को स्पष्ट करता है। योगमाया मंदिर को

लेकर भले ही पौराणिक मान्यताएँ हों, किंतु 'योगिनीपुर' और 'योगीपुर' जैसे नामों का साहित्यिक प्रयोग नाथपंथ से अधिक जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। बौद्ध, जैन और नाथ परंपराओं में 'योगिनी' की उपासना का उल्लेख भी इस सांस्कृतिक साम्य को पुष्ट करता है।

नाथपंथ का विचार-दर्शन बौद्ध मत की महायान शाखा से गहराई से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। पश्चिमोत्तर भारत और दिल्ली अंचल की जनता महायान बौद्ध मत से विशेष रूप से प्रभावित थी, क्योंकि उस समय की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में यह मत उन्हें मानसिक और आध्यात्मिक संतोष प्रदान करता था। महायान मत में निर्गुण और सगुण—दोनों भावनाओं के लिए स्थान था, जिससे यह शैव और वैष्णव धाराओं के बीच सेतु का कार्य कर सका। इतिहासकार क्षितिमोहन सेन और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार नाथपंथी योगियों ने बौद्ध चिंतन और पारंपरिक हिंदू दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया। उनकी वाणी में अपभ्रंश से विकसित होती देशभाषाओं के प्रारम्भिक रूप स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

नाथपंथी साहित्य की भाषा में अवधी जैसी पूर्वी बोलियाँ, कौरवी, ब्रज और बाँगरू जैसी पश्चिमी बोलियाँ, मेवाती जैसी राजस्थानी उपभाषाएँ तथा सिंधी और पंजाबी जैसी भाषाओं का प्रभाव भी मिलता है। इस मिश्रण से कौरवी भाषा को नया विस्तार मिला और वह केवल दिल्ली तक सीमित न रहकर पूर्व, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम के विस्तृत क्षेत्रों में लोकभाषा के रूप में फैल सकी। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने इस मिश्रित और संक्रमणशील भाषिक रूप को 'संधिकालीन' या 'संक्रमणकालीन' भाषा कहा है। शूरसेन जनपद के केंद्र में स्थित दिल्ली अंचल के कारण यही भाषा आगे चलकर 'हिंदुई' या 'हिंदवी' कही गई और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में 'खड़ी बोली' के रूप में एक परिष्कृत, स्थायी और सर्वजन-संप्रेषण की भाषा बन सकी। इस प्रकार दिल्ली अंचल हिंदी भाषा और साहित्य के विकास की एक केंद्रीय भूमि के रूप में सामने आता है।

दिल्ली में जोगियों के प्रभाव का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक संकेत यह भी माना जाता है कि विक्रमी संवत् की पहली शताब्दी के अंतिम वर्षों में, उज्जयिनी के प्रतापी राजा विक्रमादित्य के निधन के बाद दिल्ली की सत्ता को सँभालने वाला कोई सशक्त शासक तत्काल उपलब्ध नहीं था। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक अधिकारियों ने जोगी संप्रदाय के प्रमुख 'समुद्रपाल योगी' को शासन की जिम्मेदारी सौंप दी। इसी योगी वंश की ग्यारहवीं पीढ़ी के राजा 'महीपाल योगी' के नाम पर आज का 'महीपालपुर' क्षेत्र प्रसिद्ध है, जो प्राचीन 'मिहिरावली' या 'योगिनीपुर' (वर्तमान मेहरौली) के निकट स्थित है। इतिहास परंपरा के अनुसार इन योगी-राजाओं का लगभग चार सौ वर्षों तक प्रभुत्व रहा। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों पश्चात चंद वंश के राजाओं ने दिल्ली की सत्ता संभाली। चंद वंश के नवें राजा गोविंदचंद की विधवा पत्नी के नि:संतान निधन के बाद सामंतों ने हरिप्रेम वैरागी नामक एक योग्य जनप्रतिनिधि को शासक बनाया।

इन ऐतिहासिक घटनाओं से यह स्पष्ट होता है कि लंबे समय तक योगियों द्वारा शासित रहने के कारण दिल्ली का 'योगिनीपुर' या 'योगीपुर' कहलाना स्वाभाविक था। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बाद के नाथपंथी योगियों के व्यापक लोक-प्रचार की पृष्ठभूमि केवल यही थी, फिर भी इससे दिल्ली के समन्वयशील और सहिष्णु स्वभाव की प्रारंभिक भूमि अवश्य स्पष्ट होती है। संभवत: इसी कारण

दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी और उसके बाद जब इस्लामी आक्रमणों के कारण राजनीतिक उथल–पुथल हुई, तब भी दिल्ली की जनता ने सूफी संतों की प्रेम, सहिष्णुता और समन्वय पर आधारित जीवन–दृष्टि को सहज रूप से स्वीकार कर लिया।

लोकभाषा में रचित सूफी प्रेमाख्यानों की लोकप्रियता का प्रमाण सत्रहवीं शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास की आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' से मिलता है, जहाँ वे बताते हैं कि लोग घरों में बैठकर 'मधुमालती' और 'मिरगावती' जैसे प्रेमाख्यान पढ़ते–सुनते थे, रात्रि में एकत्र होकर गान और चर्चा करते थे और इसे आत्मिक आनंद का साधन मानते थे। इससे स्पष्ट है कि लोकभाषा का साहित्य सामान्य जनता के जीवन से गहराई से जुड़ा हुआ था।

यह एक रोचक संयोग माना जा सकता है कि दिल्ली के हिंदी साहित्य की प्रारंभिक भूमि मुख्यतः घुमक्कड़ साधकों, लोककवियों और जनपदीय शब्द–साधकों द्वारा तैयार हुई। पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशांबी, कन्नौज, कश्मीर और उज्जैन जैसे बड़े केंद्रों में विद्वान संस्कृत साहित्य की उन्नति में लगे हुए थे, जबकि आठवीं–नौवीं शताब्दी से विकसित हो रही देशभाषाओं में लोकजीवन, लोकआस्था और लोकसंस्कृति को स्वर देने का कार्य बौद्ध सिद्धों, जैन मुनियों, नाथपंथी योगियों और चारण कवियों ने किया। ये लोग गाँव–गाँव और मार्ग–मार्ग भ्रमण करते हुए दर्शन और भक्ति, शास्त्र और व्यवहार तथा परलोक और इहलोक के बीच संतुलन स्थापित कर सामान्य जन में आत्मविश्वास भरते थे। इन सभी लोकधाराओं का प्रभाव किसी न किसी रूप में शूरसेन जनपद के केंद्र दिल्ली तक अवश्य पहुँचा।

दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी में दिल्ली के साहित्यिक विकास की दिशा में एक नया चरण आरंभ होता दिखाई देता है। परिहारों के बाद तोमर राजपूतों ने आठवीं शताब्दी में ही दिल्ली क्षेत्र की सत्ता अपने हाथ में ले ली थी। उनका शासन क्षेत्र बहुत विस्तृत था, जिसमें राजपूताना, मध्यभारत और कुरु–पांचाल प्रदेश शामिल थे। ग्वालियर के तोमर दरबार से जुड़े जैन कवि महाचंद ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है कि वह हरियाणा देश के दिल्ली नामक स्थान पर काव्य–रचना कर रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय दिल्ली साहित्यिक गतिविधियों का सक्रिय केंद्र बन चुकी थी। मेहरौली का लालकोट, अनंगपुर और सूरजकुंड जैसे स्थल तोमर काल की समृद्धि के जीवंत प्रमाण हैं।

तोमरों के बाद सत्ता चौहानों के हाथ में आई। इस काल में दिल्ली अजमेर, मथुरा, करनाल और लाहौर जैसे प्रमुख नगरों का मध्यबिंदु बन गई। ग्यारहवीं शताब्दी में गजनी के महमूद और बारहवीं शताब्दी में मुहम्मद गौरी के आक्रमणों की गूँज दिल्ली अंचल तक पहुँची और यहीं आसपास के राजाओं ने मिलकर विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध अंतिम प्रतिरोध किया। पृथ्वीराज चौहान के समय दिल्ली का विस्तार मेहरौली–लालकोट से आगे पूर्व दिशा में बढ़ा। इंद्रप्रस्थ का प्राचीन स्थल भी अर्धखंडित अवस्था में विद्यमान रहा, जो आज 'पुराना किला' के रूप में पहचाना जाता है।

तरावड़ी के युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय के साथ दिल्ली की पुरानी राजनीतिक अस्मिता समाप्त हो गई और एक नई विदेशी सत्ता की स्थापना हुई। इसके बाद छह–सात शताब्दियों तक इस्लामी शासन के अंतर्गत दिल्ली का निरंतर विस्तार होता रहा। चिराग दिल्ली, तुगलकाबाद, कोटला फिरोजशाह, दीनपनाह, शाहजहानाबाद, सलीमगढ़, सीरी और अन्य नगर इसी प्रक्रिया के परिणाम हैं। इस राजनीतिक और भौगोलिक विस्तार का प्रभाव दिल्ली की भाषा और साहित्य पर भी पड़ा।

शासन का केंद्र होने के कारण दिल्ली की जनपदीय बोली कौरवी, जिसमें ब्रज, बाँगरू, कन्नौजी और राजस्थानी तत्व मिले हुए थे, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में फैलने लगी और दक्षिण भारत तक भी पहुँच गई। दूसरी ओर शासक वर्ग की फारसी और अरबी भाषा का भी कुछ प्रभाव उस पर पड़ा। इस भाषिक समन्वय में सूफी कवियों की भूमिका विशेष रही। शेख फरीद, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और निजामुद्दीन औलिया जैसे संतों की प्रेम-आधारित एकेश्वरवादी दृष्टि भारतीय जनमानस के अनुकूल थी। अमीर खुसरो की रचनाओं में दिल्ली का यही समन्वयशील रूप नई भाषा और नई चेतना के साथ प्रकट होता है। उनके लिए दिल्ली की 'हिंदवी' आदर्श भाषा थी। दिल्ली से बाहर की लोकबोलियाँ जहाँ 'भाषा' के नाम से जानी जाती थीं, वहीं सूफी और अन्य मुस्लिम कवियों के माध्यम से वही भाषाएँ 'हिंदवी' के रूप में विकसित हुईं। दक्षिण भारत में फारसी प्रभाव के कारण यही भाषा आगे चलकर 'रेख्ता' बनी और अंततः दिल्ली की उर्दू या हिंदुस्तानी के रूप में स्थापित हुई।

सारतः कहा जा सकता है कि दिल्ली केवल एक नगर नहीं, बल्कि समय-समय पर विकसित और उजड़ते अनेक नगरों, अंचलों और समुदायों का संगम रही। महाभारत काल के इन्द्रप्रस्थ से लेकर तोमर और चौहान राजाओं तक यह क्षेत्र राजनीतिक, सांस्कृतिक और भाषिक केंद्र बना। संस्कृत के साथ-साथ पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ प्रचलित थीं, जिनसे ब्रज, बाँगरू, कन्नौजी और कौरवी जैसी हिंदी बोलियाँ विकसित हुईं। जैन, बौद्ध और नाथपंथी योगियों ने दिल्ली में धार्मिक और साहित्यिक समन्वय स्थापित किया। सूफी संतों और लोककवियों ने सामाजिक और साहित्यिक सहिष्णुता बनाए रखी। इस्लामी शासन के दौरान नगरों का विस्तार हुआ और लोकबोलियाँ फारसी-अरबी प्रभाव के साथ मिश्रित होकर उर्दू और हिंदुस्तानी भाषा का आधार बनीं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *व्यास, कृष्णद्वैपायन; श्रीमद्भगवद्गीता; गीताप्रेस, गोरखपुर; 2018*
2. *शास्त्री, रामनारायण; विदुरनीति; चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी; 2009*
3. *अग्रवाल, वासुदेवशरण; भारत की सांस्कृतिक कहानी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; 1997*
4. *त्रिपाठी, रामनाथ; दिल्ली का सांस्कृतिक इतिहास; साहित्य भवन, इलाहाबाद; 1985*
5. *सेन, क्षितिमोहन; भारतीय धर्म और संस्कृति का इतिहास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 1976*
6. *द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्य का इतिहास; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; 2002*
7. *हुसैन, आगा महदी; मसालिक उलअबसार (वाक़यात दारुल हकूमत दिल्ली); लाहौर; 1850*
8. *मुगल कालीन स्रोत: मोहतशम-उद्दौला; सैरुल मोहतशम; लाहौर; 19वीं शताब्दी*
9. *शाहजादा मिर्जा अहमद अख्तर; स्वानह देहली; उर्दू; 1850 ई.*
10. *कौल, एच. के.; Historic Delhi; अंग्रेजी ग्रंथ; नई दिल्ली; 1960*
11. *बनारसीदास; अर्द्धकथानक; वाराणसी; 17वीं शताब्दी*

12. *जिनप्रभ सूरि; जैन काव्यग्रंथ; हस्तिनापुर/दिल्ली; 13वीं शताब्दी*

13. *महाचंद; जैन काव्यग्रंथ; ग्वालियर; 10वीं शताब्दी*

14. *पुरातात्त्विक स्रोत: कालका मंदिर मार्ग, लाजपत नगर-श्रीनिवासपुरी, दिल्ली; अशोककालीन शिलालेख, ब्राह्मी लिपि, प्राकृत भाषा; 1966 ई*

15. *दि सैवन सिटीज ऑफ़ देहली, जी. आर. हर्न, लंदन:,1906*

16. *शाहजादा मिर्जा अहमद अख्तर गोरगानी; स्वानह दिल्ली (उर्दू), संपा. मरगूब आबदी, उर्दू अकादमी, दिल्ली 1992*

17. *द्रष्टव्य: बशीरुद्दीन अहमद, वाक़यात दारुल हकूमत दिल्ली, भाग-2, उर्दू अकादमी, दिल्ली*

18. *डॉ. रामरतन भटनागर, प्राचीन हिंदी काव्ये, इंडि.प्रे. लि., प्रयाग, 1952*

19. *एच. के. कौल, हिस्टॉरिक देल्ही, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985*

20. *डॉ. सूरत सिंह गहलौत, दिल्ली ग्रामीण क्षेत्र के लोकगीतों का अध्ययन, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1966*

21. *वाई. डी. शर्मा, दिल्ली और उसका अंचल, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली, 1991*

22. *दिल्ली: हिस्ट्री एंड प्लेसेज़ ऑफ़ इंटरेस्ट, सूचना प्रभाग, भारत सरकार, 1975*

23. *आचार्य बापू वाकणकर, 'लिपिकार', कुतुबमीनार के शिल्पी वराहमिहिराचार्य, इतिहास दर्पण, भाग-3, अंक-2, नई दिल्ली, 1966*

24. *डॉ. रामप्रकाश, डॉ. दिनेश गुप्त, प्रयोजनमूलक हिंदी: संरचना एवं अनुप्रयोग, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997*